"प्रश्नोत्तर रत्नमालिका और हितमणिमाला के परिप्रेक्ष्य में गुरु और पंडित की मीमांसा"

लेखकः
डॉ. आशीष जैन आचार्य 'शाहगढ़'
(राष्ट्रपति पुरस्कार प्राप्त)
महामंत्री, प्राकृत भाषा विकास फाउण्डेशन
संयुक्त मंत्री – अ.भा.दि. जैन शास्त्रिपरिषद्

सारांश- भारतीय ज्ञान-परम्परा में 'गुरु' केवल अध्यापक या उपदेशक का पर्याय नहीं है, अपितु वह जीवन को अज्ञान से ज्ञान, अविवेक से विवेक और संसाराभिमुखता से मोक्षाभिमुखता की ओर ले जाने वाली चेतना का प्रतिनिधि है। जैन साहित्य में गुरु सर्वोपरि है, क्योंकि यही वह मार्ग है जिससे सिद्धत्व की प्राप्ति होती है। प्रस्तुत शोधालेख में राजर्षि अमोघवर्षकृत **'प्रश्नोत्तर रत्नमालिका'** तथा मुनिश्री आदित्यसागरजी महाराज विरचित **'हितमणिमाला' (अपर नाम –'सद्बोध-मालिका')** में प्रतिपादित गुरु और पण्डित की अवधारणाओं का तुलनात्मक एवं विश्लेषणात्मक अध्ययन किया गया है।

प्रश्नोत्तर रत्नमालिका में गुरु की पहचान तत्त्व के यथार्थ स्वरूप को जानने तथा प्राणियों के हित में निरन्तर प्रवृत्त रहने वाले व्यक्ति के रूप में की गई है। इसी कृति में पण्डित को 'विवेकी' कहा गया है। इस प्रकार यहाँ पण्डितत्व का आधार बाह्य विद्वत्ता न होकर सत्य-असत्य, हित-अहित तथा उचित-अनुचित का विवेक है। दूसरी ओर हितमणिमाला गुरु की अवधारणा को अत्यन्त व्यवहारिक एवं क्रमिक रूप में प्रस्तुत करती है –**माता प्रथम गुरु, दिगम्बर महाश्रमण द्वितीय गुरु, अभ्यास तृतीय गुरु और समय चतुर्थ गुरु** है। इस क्रम में बालक के प्रारम्भिक संस्कार से लेकर आध्यात्मिक दीक्षा, ज्ञानाभ्यास और अन्ततः समय द्वारा प्राप्त जीवन-बोध तक की सम्पूर्ण यात्रा समाहित हो जाती है।

दोनों कृतियों का समन्वित अध्ययन यह स्पष्ट करता है कि गुरु बाहरी व्यक्ति मात्र नहीं, बल्कि जीवन को दिशा देने वाली प्रक्रिया है; पण्डित वह है जो उस दिशा को विवेकपूर्वक ग्रहण करता है; अभ्यास उस शिक्षा को संस्कार में परिणत करता है और समय उसके परिणाम का बोध कराता है। अतः इन दोनों कृतियों में गुरु और पण्डित की अवधारणा मिलकर एक ऐसे आदर्श मनुष्य की रचना करती है जो ज्ञानवान, विवेकी, विनयी, अनुशासित और परहितकारी हो।

बीजशब्द– प्रश्नोत्तर रत्नमालिका, हितमणिमाला, सद्बोध-मालिका, अमोघवर्ष, मुनि आदित्यसागरजी, गुरु, पण्डित, विवेक, अभ्यास, समय, जैन दर्शन।

❖ **प्रस्तावना –** भारतीय संस्कृति में शिक्षा का उद्देश्य केवल सूचना अथवा कौशल का अर्जन नहीं रहा है। शिक्षा का मूल प्रयोजन मनुष्य के व्यक्तित्व का परिष्कार , दृष्टि का विकास और जीवन को सार्थक दिशा प्रदान करना रहा है। इसी कारण भारतीय वाङ्मय में गुरु को अत्यन्त उच्च स्थान प्राप्त हुआ। गुरु वह है जो केवल पढ़ाता नहीं , बल्कि जीवन को समझना सिखाता है।

जैन दर्शन की दृष्टि से सम्यग्दर्शन , सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चरित्र की प्राप्ति आत्मकल्याण की आधारभूमि है। इस मार्ग में तत्त्व का यथार्थ ज्ञान , विवेक, अनुशासन, अभ्यास और सदुपयोगी जीवन अत्यन्त आवश्यक हैं। इसी व्यापक जीवन -दृष्टि को प्रश्नोत्तर शैली में प्रस्तुत करने वाली कृतियों में **प्रश्नोत्तर रत्नमालिका** विशेष महत्त्व रखती है। यह कृति राजर्षि अमोघवर्ष की 29 श्लोकों वाली लघु किन्तु प्रभावशाली है।

मुनिश्री आदित्यसागरजी महाराज की **हितमणिमाला**, जिसे 'सद्बोध-मालिका' नाम से भी सम्बोधित किया गया है , गुरु की अवधारणा को और अधिक जीवनोपयोगी रूप में सामने रखती है। यहाँ गुरु का अर्थ किसी एक व्यक्ति तक सीमित नहीं है ; माता से आरम्भ होकर दिगम्बर साधु , अभ्यास और समय तक गुरु की अवधारणा का विस्तार किया गया है।

अतः दोनों कृतियों का तुलनात्मक अध्ययन गुरु की भारतीय अवधारणा के विकासात्मक स्वरूप को समझने की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

❖ **प्रश्नोत्तर रत्नमालिका में गुरु की अवधारणा –** प्रश्नोत्तर रत्नमालिका का एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है—

"भगवन्! किमुपादेयं गुरुवचनं हेयमपि च किमकार्यम्।
को गुरुरधिगततत्त्वः सत्त्वहिताभ्युद्यतः सततम्॥"

इस प्रश्न में तीन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तत्त्व सामने आते हैं —उपादेय, हेय और गुरु। उपादेय के रूप में गुरु-वचन तथा हेय के रूप में अकार्य को स्वीकार किया गया है। इसके बाद गुरु की परिभाषा दी जाती है। गुरु वह है जिसने तत्त्व को अधिगत किया है और जो निरन्तर प्राणियों के हित के लिए उद्यत रहता है। यहाँ गुरु की दो अनिवार्य विशेषताएँ दिखाई देती हैं—

- **पहली—तत्त्वज्ञान।**

  गुरु केवल पुस्तकीय ज्ञान से गुरु नहीं बनता। उसे वस्तु के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान होना चाहिए।

- **दूसरी—हितप्रवृत्ति।**

  ज्ञान यदि लोकहित और जीवहित में परिणत नहीं होता तो वह गुरुता की पूर्ण कसौटी को प्राप्त नहीं करता। अतः गुरु की विद्वत्ता के साथ उसकी करुणा , परहित-भावना और मार्गदर्शक क्षमता भी आवश्यक है। इस दृष्टि से प्रश्नोत्तर रत्नमालिका गुरु को **'ज्ञानी' और 'हितकारी'—इन दोनों गुणों के समन्वय** के रूप में स्थापित करती है।

❖ गुरु शब्द : अज्ञानान्धकार का निरोधक

भारतीय ज्ञान-परम्परा में 'गुरु' शब्द का अर्थ केवल शिक्षक या अध्यापक तक सीमित नहीं है। गुरु की मूल संकल्पना उस व्यक्तित्व से सम्बद्ध है जो अज्ञानरूपी अन्धकार का निरसन कर ज्ञान का प्रकाश उत्पन्न करता है। इस अर्थ को व्युत्पत्तिपरक रूप में इस प्रकार अभिव्यक्त किया गया है—

गुशब्दस्त्वन्धकारः स्यात् रुशब्दस्तन्निरोधकः।

अन्धकारनिरोधत्वाद् गुरुरित्यभिधीयते॥- द्वयोपनिषद-4

अर्थात् **'गु' शब्द अन्धकार का तथा 'रु' शब्द उसके निरोधक का वाचक है। अन्धकार का निरोध करने के कारण उसे 'गुरु' कहा जाता है।** यह व्याख्या *द्वयोपनिषद्* के संदर्भ से प्रस्तुत की गई है। यहाँ अन्धकार का अभिप्राय केवल भौतिक अन्धकार से नहीं , बल्कि **अज्ञान, अविवेक और तत्त्व के यथार्थ स्वरूप से अपरिचय** से है। अतः गुरु वह है जो साधक के अन्तःकरण में ज्ञान का प्रकाश उत्पन्न करता है। इसी भाव को गुरु-वन्दना के प्रसिद्ध श्लोक में अत्यन्त प्रभावशाली ढंग से व्यक्त किया गया है—

अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जनशलाकया।

चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः॥- *स्कन्दपुराण* के *गुरुगीता*

अर्थात् **जिस गुरु ने ज्ञानरूपी अंजन की शलाका से अज्ञानरूपी अन्धकार से अन्धी हुई आँखों को खोल दिया, उन श्रीगुरु को नमस्कार है।** यह पद्य *स्कन्दपुराण* के *गुरुगीता* प्रसंग से सम्बद्ध रूप में उद्धृत किया जाता है। यहाँ गुरु की भूमिका अत्यन्त स्पष्ट है—वह बाह्य नेत्रों को नहीं, बल्कि **ज्ञान-चक्षु** को उद्घाटित करता है। इसी गुरु-तत्त्व का एक विशिष्ट संतपरम्परागत रूप दादूदयाल की वाणी में दिखाई देता है—

दादू काढे काल मुखि, अंधे लोचन देइ।

दादू ऐसा गुरु मिल्या, जीव ब्रह्म करि लेइ॥

दादूदयाल के अनुसार ऐसा गुरु , जो जीव को अज्ञान और संसारगत बन्धनों से निकालकर उसके वास्तविक स्वरूप का बोध करा दे , अत्यन्त दुर्लभ है। यहाँ गुरु की परिणति केवल ज्ञान -प्रदान में नहीं, बल्कि **जीव के आध्यात्मिक रूपान्तरण** में मानी गई है।

❖ संदर्भित कृतियों के परिप्रेक्ष्य से इसका सम्बन्ध

इन भारतीय परम्पराओं में गुरु के लिए प्रयुक्त **'अन्धकार-निरोधक', 'ज्ञानचक्षु-उन्मीलक' और 'आत्मरूपान्तरणकारी'** विशेषणों की पृष्ठभूमि में जब *प्रश्नोत्तर रत्नमालिका* के गुरु -विषयक पद्य को देखते हैं, तो दोनों के बीच एक महत्त्वपूर्ण वैचारिक सेतु दिखाई देता है—

को गुरुरधिगततत्त्वः सत्त्वहिताभ्युद्यतः सततम्॥

यहाँ गुरु वह है जो **तत्त्व को जान चुका है** और **सत्त्वों के हित के लिए निरन्तर उद्यत** है। अर्थात् भारतीय गुरु -परम्परा में जहाँ गुरु अज्ञानान्धकार का निरोधक है , वहीं *प्रश्नोत्तर रत्नमालिका* में वह **तत्त्वज्ञ और सत्त्वहितकारी** है।

❖ उत्तराध्ययनसूत्र और गुरु-शिष्य सम्बन्ध

उत्तराध्ययनसूत्र के प्रथम अध्ययन का विषय ही **विनय** है। उपलब्ध स्रोत में इसे गुरु -शिष्य सम्बन्ध की आधारभूमि बताया गया है। विनयशील शिष्य की विशेषता यह है कि वह गुरु से प्राप्त ज्ञान और निर्देश को ग्रहण करने योग्य मानसिकता रखता है। उत्तराध्ययन परम्परा में आचार्य , उपाध्याय और स्थविर साधु आदि गुरुजन की प्रसन्नता शिष्य के ज्ञान -ध्यान और समाधि की स्थिरता से सम्बद्ध की गई है। इसकी तुलना में *प्रश्नोत्तर रत्नमालिका* गुरु -वचन को 'उपादेय' और गुरु - अवधीरणा को 'विष' बताती है। अतः—

- **उत्तराध्ययनसूत्र → विनय**
- **प्रश्नोत्तर रत्नमालिका → गुरु-वचन का उपादेयत्व**

दोनों मिलकर गुरु-शिष्य सम्बन्ध का नैतिक ढाँचा निर्मित करते हैं।

❖ रत्नकरण्ड श्रावकाचार में गुरु और सम्यग्दर्शन

आचार्य समन्तभद्रकृत *रत्नकरण्ड श्रावकाचार* में सम्यग्दर्शन के संदर्भ में आप्त, आगम और गुरु के श्रद्धान की चर्चा आती है। मूल सूत्ररूप वाक्य है—

"श्रद्धानं परमार्थानामाप्तागमतपोभृताम्..."

आप्त, आगम और गुरु को परमार्थभूत मानकर उनके श्रद्धान को सम्यग्दर्शन से जोड़ा गया है। साथ ही गुरु-मूढ़ता से रहित होने को सम्यग्दर्शन के अंगों से सम्बद्ध किया गया है। यहाँ एक महत्त्वपूर्ण तुलना सामने आती है—

- *रत्नकरण्ड श्रावकाचार* गुरु को **सम्यग्दर्शन की श्रद्धा-भूमि** में रखता है।
- *प्रश्नोत्तर रत्नमालिका* गुरु को **तत्त्वज्ञान और सत्त्वहित की कसौटी** पर रखती है।
- *हितमणिमाला* गुरु को **जीवन-शिक्षण की क्रमिक प्रक्रिया** में रखती है।

इस प्रकार तीनों दृष्टियाँ मिलकर गुरु की त्रिस्तरीय संरचना बनाती हैं— **श्रद्धा → ज्ञान → जीवन-परिवर्तन।**

- ❖ **गुरु-वचन का उपादेयत्व -** प्रश्नोत्तर रत्नमालिका में गुरु -वचन को उपादेय कहा गया है। इसका तात्पर्य अन्ध-अनुकरण नहीं है। गुरु-वचन का महत्त्व इसलिए है कि वह तत्त्वदर्शी और हितकारी गुरु से प्राप्त होता है। **गुरु का वचन साधक के लिए दिशा-सूचक है। वह यह बताता है कि क्या ग्रहण करना चाहिए ? और क्या त्यागना चाहिए ? इसीलिए कृति में अकार्य को हेय कहा गया है। यहाँ एक गहरी नैतिक दृष्टि दिखाई देती है** —सच्ची शिक्षा का मूल्य केवल यह जानने में नहीं कि क्या करना है ? बल्कि यह जानने में भी है कि क्या नहीं करना है ? **गुरु मनुष्य में इस विवेक को विकसित करता है।**
- ❖ **प्रश्नोत्तर रत्नमालिका में पण्डित की अवधारणा-** इसमें प्रश्न किया गया है—

"कः पण्डितो विवेकी ?"

इसका उत्तर पण्डित को 'विवेकी' के रूप में स्थापित करता है। यहाँ पण्डित शब्द का अर्थ केवल वेद-शास्त्रों या ग्रन्थों का ज्ञाता नहीं है। पण्डित वह है जो **विवेकशील** है। विवेक का अर्थ है— सत् और असत् , हित और अहित , उचित और अनुचित , शाश्वत और अशाश्वत के मध्य भेद को समझने की क्षमता। इस प्रकार प्रश्नोत्तर रत्नमालिका में पण्डितत्व की कसौटी **ज्ञान की मात्रा नहीं , ज्ञान की परिणति** है। जिस ज्ञान से विवेक उत्पन्न नहीं होता , वह अभी पूर्ण जीवनज्ञान नहीं है। यही बिन्दु गुरु और पण्डित को परस्पर जोड़ता है। गुरु तत्त्व का मार्ग दिखाता है और पण्डित उस मार्ग को विवेकपूर्वक पहचानता है।

- ❖ **गुरु-तिरस्कार और पण्डितत्व का सम्बन्ध -** प्रश्नोत्तर रत्नमालिका में 'गुरु-अवधीरणा' अथवा गुरु के तिरस्कार को विष के समान बताया गया है। यह कथन गुरु के प्रति अन्धश्रद्धा स्थापित करने के लिए नहीं , बल्कि **ज्ञान-स्रोत के प्रति विनय और कृतज्ञता** की आवश्यकता को रेखांकित करता है। जिस व्यक्ति में विवेक है , वह गुरु के महत्त्व को समझता है। अतः

पण्डितत्व और विनय परस्पर विरोधी नहीं हैं। वास्तविक पण्डित वही है जो अपनी ज्ञान -सीमा को समझता है और योग्य मार्गदर्शक के प्रति विनय रखता है।

इस प्रकार कृति में पण्डित के तीन गुणों का संकेत प्राप्त होता है— **ज्ञान, ~~-~~विवेक और ~~-~~विनय।**

❖ **हितमणिमाला में गुरु की विस्तृत अवधारणा** - हितमणिमाला का प्रस्तुत पद गुरु की अवधारणा को एक नवीन और अत्यन्त व्यावहारिक आयाम देता है—

"कः प्रथमः गुरुः माता, द्वितीयो दिगम्बरो महाश्रमणः।

तृतीयोऽभ्यासो गुरुः, चरमः समयो गुरुर्ज्ञेयः॥"

यहाँ गुरु के चार रूप बताए गए हैं—

- **माता — प्रथम गुरु**
- **दिगम्बर महामहाश्रमण — द्वितीय गुरु**
- **अभ्यास — तृतीय गुरु**
- **समय — चतुर्थ अथवा चरम गुरु**

यह क्रम अत्यन्त अर्थपूर्ण है। इसमें मनुष्य के जीवन की सम्पूर्ण शिक्षण-यात्रा समाहित है।

❖ **7. माता : प्रथम गुरु**

बालक के जीवन में प्रथम शिक्षिका माता होती है। जन्म के पश्चात् बोलना , चलना, भोजन करना, व्यवहार करना, संस्कार ग्रहण करना तथा सामाजिक जीवन के प्राथमिक नियम सीखना —इन सबकी आधारभूमि माता तैयार करती है। हितमणिमाला माता को केवल जन्मदात्री के रूप में नहीं देखती, बल्कि **संस्कारदात्री** के रूप में प्रतिष्ठित करती है। माता बालक को कुमार्ग से रोकती है और सन्मार्ग की ओर प्रेरित करती है। इसलिए माता की गुरुता केवल जैविक सम्बन्ध पर आधारित नहीं है ; वह **संस्कार-प्रदायिनी भूमिका** पर आधारित है।

❖ **दिगम्बर महाश्रमण : द्वितीय गुरु**

हितमणिमाला में दिगम्बर साधु को द्वितीय गुरु कहा गया है। यह जीवन की दूसरी अवस्था का संकेत है। माता व्यक्ति को समाज में जीना सिखाती है , जबकि दिगम्बर साधु उसे **समाज की सीमाओं से ऊपर उठकर आत्मकल्याण के मार्ग पर चलना**सिखाते हैं।

यहाँ 'द्वितीय जन्म' की अवधारणा भी महत्त्वपूर्ण है। दीक्षा के माध्यम से साधक के जीवन में आध्यात्मिक परिवर्तन आता है। उसका लक्ष्य केवल सामाजिक सफलता नहीं रह जाता , बल्कि मोक्षमार्ग की ओर उन्मुख हो जाता है। अतः प्रथम गुरु जीवन-व्यवहार का संस्कार देता है और द्वितीय गुरु **जीवन के परम प्रयोजन का बोध** कराता है।

❖ अभ्यास : तृतीय गुरु

हितमणिमाला का सबसे मौलिक पक्ष है—**अभ्यास को गुरु मानना**।सामान्यतः गुरु को व्यक्ति के रूप में देखा जाता है , किन्तु यहाँ अभ्यास को स्वयं गुरु की संज्ञा दी गई है। इसका दार्शनिक महत्त्व अत्यन्त गहरा है। गुरु ज्ञान दे सकता है, मार्ग दिखा सकता है, परन्तु उस ज्ञान को जीवन का अंग बनाने का कार्य अभ्यास करता है। ज्ञान सुनने से प्राप्त हो सकता है , किन्तु ज्ञान का स्थायी संस्कार **अभ्यास से** बनता है। इसीलिए— **उपदेश दिशा देता है , अभ्यास गति देता है और निरन्तर अभ्यास साधना को सिद्धि की ओर ले जाता है।** गृहस्थ जीवन में भी विद्या का अभ्यास यदि केवल लौकिक उपार्जन तक सीमित रह जाए तो वह संसार -परम्परा को पुष्ट कर सकता है। इसके विपरीत परमार्थविद्या का अभ्यास आत्मकल्याण का साधन बनता है। इस दृष्टि से अभ्यास स्वयं एक शिक्षक है , क्योंकि वह व्यक्ति को उसकी कमियों का अनुभव कराता है और पुनः प्रयास करने के लिए प्रेरित करता है।

❖ समय : चरम गुरु

हितमणिमाला में समय को अंतिम गुरु कहा गया है। यह विचार अत्यन्त जीवन-दर्शनपरक है। समय किसी व्यक्ति की तरह प्रत्यक्ष उपदेश नहीं देता , किन्तु **परिणामों के माध्यम से शिक्षा देता है।** व्यक्ति यदि उचित समय पर सावधान हो जाए तो जीवन में उन्नति करता है। यदि अवसर चूक जाए तो वही समय उसे उसके कर्मों के परिणाम का अनुभव कराता है। समय इस अर्थ में कठोर गुरु है कि वह किसी के लिए रुकता नहीं। जिसने समय का सदुपयोग किया , उसने जीवन को सार्थक किया ; जिसने समय का दुरुपयोग किया , उसे पश्चात्ताप के माध्यम से सीखना पड़ा। अतः समय की गुरुता का आधार है— **अनुभव, परिणाम, –आत्मबोध और–सुधार।**

❖ दोनों कृतियों में गुरु की तुलनात्मक मीमांसा

प्रश्नोत्तर रत्नमालिका और हितमणिमाला में गुरु की अवधारणा में स्पष्ट साम्य दिखाई देता है। दोनों में गुरु का सम्बन्ध केवल बाहरी शिक्षा से नहीं , बल्कि **जीवन के रूपान्तरण** से है। प्रश्नोत्तर रत्नमालिका गुरु की गुणात्मक परिभाषा देती है —तत्त्वज्ञ और हितकारी व्यक्ति गुरु है। हितमणिमाला गुरु की कार्यात्मक परिधि को विस्तृत करती है —जो जीवन के विभिन्न चरणों में शिक्षा और संस्कार देता है, वह गुरु है। इस प्रकार दोनों को साथ रखकर गुरु की समग्र परिभाषा इस प्रकार निर्मित की जा सकती है— **"जो तत्त्व का यथार्थ ज्ञान रखता हो , हितकारी मार्ग दिखाता हो , जीवन को अनुशासित**

करता हो, अभ्यास के लिए प्रेरित करता हो और अनुभव से आत्मबोध कराता हो, वही व्यापक अर्थ में गुरु है।"

❖ गुरु और पण्डित : सम्बन्ध का विश्लेषण

दोनों कृतियों का तुलनात्मक अध्ययन यह बताता है कि गुरु और पण्डित दो पृथक् किन्तु परस्पर सम्बद्ध अवधारणाएँ हैं।

गुरु मार्गदर्शक है, पण्डित मार्ग का विवेकी यात्री।

गुरु तत्त्व का ज्ञान देता है ; पण्डित उस ज्ञान का विवेकपूर्ण प्रयोग करता है। गुरु अनुशासन देता है; पण्डित अनुशासन को स्वीकार करता है। गुरु सन्मार्ग दिखाता है ; पण्डित कुमार्ग और सन्मार्ग का भेद करता है। इस दृष्टि से पण्डितत्व गुरु -प्रदत्त ज्ञान की परिणति है। यदि ज्ञान विवेक में परिणत नहीं हुआ तो पण्डितत्व अधूरा है। इसी प्रकार यदि गुरु के पास तत्त्वज्ञान और हितप्रवृत्ति नहीं है तो उसकी गुरुता भी प्रश्नांकित होती है।

❖ गुरु और पण्डित की तुलनात्मक संरचना

आधार	गुरु	पण्डित
• मूल स्वरूप	मार्गदर्शक	विवेकी साधक
• मुख्य गुण	तत्त्वज्ञान	विवेक
• लक्ष्य	हित एवं आत्मकल्याण	हित-अहित का निर्णय
• साधन	उपदेश	विचार एवं अभ्यास
• नैतिक आधार	परहित	स्व-परहित
• आध्यात्मिक आधार	तत्त्वदर्शन	तत्त्वविवेक
• परिणति	मार्गदर्शन	आत्मपरिणमन

इस सारणी से स्पष्ट है कि गुरु और पण्डित विरोधी नहीं , बल्कि परस्पर पूरक अवधारणाएँ हैं।

❖ गुरु, अभ्यास और समय : ज्ञान की परिणति का त्रिकोण

हितमणिमाला का चार -गुरु सिद्धान्त प्रश्नोत्तर रत्नमालिका के गुरु और पण्डित सिद्धान्त को आगे बढ़ाता हुआ प्रतीत होता है।

- **माता संस्कार देती है।**

- **दिगम्बर साधु दिशा देते हैं।**
- **अभ्यास ज्ञान को स्थायित्व देता है।**
- **समय परिणाम का बोध कराता है।**

इस क्रम में व्यक्ति की शिक्षा जन्म से प्रारम्भ होकर आत्मबोध तक पहुँचती है। यहाँ गुरु कोई एक व्यक्ति नहीं रह जाता; वह **जीवन की सम्पूर्ण शिक्षण-व्यवस्था** बन जाता है।

❖ आधुनिक शिक्षा के संदर्भ में प्रासंगिकता

इन दोनों कृतियों की शिक्षादृष्टि आधुनिक शिक्षा -व्यवस्था के लिए भी महत्त्वपूर्ण है। आज शिक्षा में सूचना और तकनीकी दक्षता को पर्याप्त मान लेने का संकट दिखाई देता है। इन कृतियों का संदेश है कि शिक्षा का लक्ष्य **व्यक्तित्व-निर्माण और विवेक-विकास** भी होना चाहिए। माता को प्रथम गुरु मानने से परिवार की शैक्षिक भूमिका स्पष्ट होती है। दिगम्बर साधु को द्वितीय गुरु मानने से नैतिक और आध्यात्मिक शिक्षा की आवश्यकता सामने आती है। अभ्यास को गुरु मानने से 'learning by practice' का महत्त्व स्पष्ट होता है। समय को गुरु मानने से अनुभवात्मक शिक्षा और आत्ममूल्यांकन की आवश्यकता सिद्ध होती है।

इसी प्रकार पण्डित को विवेकी मानने का अर्थ है कि आधुनिक शिक्षा का लक्ष्य केवल 'जानकारी रखने वाला व्यक्ति' नहीं, बल्कि **सही निर्णय लेने में सक्षम विवेकशील नागरिक** तैयार करना होना चाहिए।

❖ निष्कर्ष

प्रश्नोत्तर रत्नमालिका और हितमणिमाला दोनों कृतियाँ गुरु की अवधारणा को व्यापक जीवन-दृष्टि से जोड़ती हैं। प्रश्नोत्तर रत्नमालिका में गुरु की श्रेष्ठता उसके **तत्त्वज्ञान और जीवहित-प्रवृत्ति** में निहित है, जबकि पण्डित की पहचान **विवेक** से होती है। दूसरी ओर हितमणिमाला गुरु की अवधारणा को जीवन के क्रमिक विकास से जोड़ते हुए माता, दिगम्बर महाश्रमण, अभ्यास और समय को चार गुरु के रूप में प्रतिष्ठित करती है। इन दोनों कृतियों के समन्वित अध्ययन से स्पष्ट होता है कि **गुरु ज्ञान का स्रोत है, पण्डित विवेक का प्रतीक है, अभ्यास ज्ञान का संस्कार है और समय अनुभव का शिक्षक है।** गुरु मनुष्य को दिशा देता है, पण्डित उस दिशा का विवेक करता है, अभ्यास उसे जीवन में उतारता है और समय उसकी सार्थकता का परीक्षण करता है।

अतः इन कृतियों में प्रतिपादित आदर्श मनुष्य केवल ज्ञानी नहीं है; वह **विवेकी, विनयी, अनुशासित, अभ्यासशील, समय-सचेत और परहितकारी** है। यही दोनों कृतियों की शिक्षादृष्टि का मूल संदेश है। इस प्रकार 'गुरु' बाह्य व्यक्ति से आरम्भ होकर अन्ततः आन्तरिक जागरण की प्रक्रिया

बन जाता है और 'पण्डित' शास्त्रज्ञ से विकसित होकर विवेकवान् आत्मद्रष्टा की संज्ञा प्राप्त करता है। यही **गुरु से पण्डित और पण्डित से आत्मबोध की यात्रा** इन दोनों कृतियों को परस्पर जोड़ने वाली सबसे महत्त्वपूर्ण वैचारिक कड़ी है।

❖ संदर्भ-संकेत

[1] अमोघवर्ष, *प्रश्नोत्तर रत्नमालिका*, गुरु-विषयक श्लोक। उपलब्ध मुद्रित PDF, पृ. 3।

[2] वही, पण्डित-विषयक श्लोक, पृ. 5।

[3] वही, मोक्षमार्ग एवं सम्यग्ज्ञान-क्रिया सम्बन्धी श्लोक, पृ. 4।

[4] आदित्यसागरजी महाराज, *हितमणिमाला अथवा सद्बोध-मालिका*, श्लोक 7।

[5] वही, "प्रथम गुरु कौन है ?" प्रश्नोत्तर, पृ. 103 के आसपास उपलब्ध पाठ।

[6] उमास्वामी, *तत्त्वार्थसूत्र*, 1.1—"सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।"

[7] समन्तभद्राचार्य, *रत्नकरण्ड श्रावकाचार*, सम्यग्दर्शन-प्रकरण।

[8] *उत्तराध्ययनसूत्र*, प्रथम अध्ययन—विनय।

[9] कुन्दकुन्दाचार्य, *समयसार*, आत्मतत्त्व एवं ज्ञान-विवेक सम्बन्धी गाथाएँ।

[10] आदित्यसागरजी महाराज , *हितमणिमाला*, सत्य एवं संज्ञान सम्बन्धी पद्य —"किं सत्यं जिनवचनं, संज्ञानं हेयोपादेयविवेकम्।"